गाँधी और विनोबा का ईशावास्य-दर्शन

डा. एस. विजय कुमार

वैदिक विचार अनादि व सनातन है और उसकी धारा सतत प्रवाहित रही है। यह प्रवाह कहीं गुप्त, कहीं प्रकट, कभी मन्द और कभी तीव्र रहा है। मध्ययुग में अनेक आचार्यों ने अपने भाष्यों से इस प्रवाह को तीव्र किया। उसके बाद अनेक टीकाकार हुये जिन्होंने इस धारा का विकास किया। आधुनिक युग में अनेक महात्मा एवं सन्त आये और उन्होंने "देवभाषा की जंगल-घाटी में फँसे आरण्यक वैदिक विचार-प्रवाह को लोक भाषा के रास्ते मुक्त किया और जनपदों में पहुँचा दिया।" महात्मा गाँधी और सन्त विनोबा इसी कोटि के शीर्ष पुरुष थे। इन महापुरुषों का चिन्तन परम्परा से बहुत भिन्न नहीं है। इन्होंने परम्परा में रहकर, मूल को आधार बनाकर ही चिन्तन किया, किन्तु अपने युग की माँग के अनुसार विचारों को प्रस्तुत किया। परम्परा से प्राप्त सनातन सत्य को युगानुरूप साँचे में ढाला और उनमें एक नूतन प्राण का सञ्चार कर दिया।

ईशावास्योपनिषद् और महात्मा गाँधी

आधुनिक युग के 'महात्मा' गाँधी जी का **ईशोपनिषद्** से सर्वाधिक लगाव था। गाँधी जी ने विश्व के अनेक धर्मग्रन्थों को पढ़ा था और उन धर्मग्रन्थों के अच्छे अंशों को अपने जीवन में उतारने में उन्हें कभी संकोच नहीं हुआ। किन्तु सभी धर्मों को एक समान सच्चा और आदरणीय मानने वाले गांधी जी यदि जीवन पर्यन्त हिन्दू बने रहे तो इसका कारण स्वयं उनके अनुसार था **ईशोपनिषद्** का प्रथम मंत्र।[1] गाँधी जी के अनुसार समस्त हिन्दू धर्म का सार ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र में आ जाता है। हमारी सारी ज्ञान पिपासा शमन करने के लिये यह एक मंत्र काफी है। हिन्दू धर्म के भक्तों क़ो सैकड़ों वर्षों से उत्साह दिलाने वाला, साधु सन्तों को प्रेरणा देनेवाला मंत्र है यह। हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता आदि बुराइयों के होते हुये भी यदि हम इस पर निछावर हो जाते हैं तो उसका कारण है यह मंत्र। यदि किसी को इस्लाम की तरह कोई सादा कलमा हिन्दू धर्म में देखना हो तो वह इस मंत्र को देख ले। तत्त्व का चिन्तन करने वाले तथा व्यवहार में लगे रहने वाले दोनों ही प्रकार के हिन्दुओं को सन्तोष देने वाली कोई चीज है तो यह मंत्र। गांधी जी **ईशोपनिषद्** के इस प्रथम मंत्र पर इतना मुग्ध थे कि उन्होंने निर्णय दे दिया कि "सारे उपनिषद् और दूसरे सब हिन्दू धर्मग्रन्थ अकस्मात् जलकर राख हो जाँय और **ईशोपनिषद्** का केवल पहला श्लोक ही हिन्दुओं की स्मृति में बना रह जाय तो भी हिन्दू धर्म चिरकाल तक जीवित बना रहेगा।"[2]

आश्रम की प्रार्थना का प्रारंभ इसी मंत्र के पाठ से होता था। गांधी जी प्राय: अपने व्याख्यानों में इस मंत्र की व्याख्या करते थे और इसे 'सोने की कुंजी' (The Golden Key[3]), 'ईशोपनिषद् का एक रत्न'[4], 'सर्व व्यापक मंत्र (all comprehensive mantra[5]),' 'चमत्कारी मंत्र[6] आदि विशेषणों से विभूषित करते थे। गाँधी जी ने ईशोपनिषद् के मात्र इसी मंत्र की व्याख्या की है क्योंकि उनकी मान्यता थी कि "प्राचीन उपनिषद् के दूसरे सब मंत्र इस पहले मंत्र की टीका हैं, या इसका सम्पूर्ण अर्थ देने के प्रयत्नरूप हैं।"[7]

गाँधी जी ने इस मंत्र की व्याख्या चार भागों में की है। पहला भाग है "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'—इस विशाल जगत् में हम जो कुछ देखते हैं वह सब ईश्वर व्याप्त है। दूसरा और तीसरा भाग है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'। गाँधी जी इसे दो भागों में बाँटते हैं और इसका अर्थ करते हैं-"इसे त्यागो, इसे भोगो'। इस मंत्र का एक दूसरा अर्थ भी है—"वह तुम्हें जो दे, उसे भोगो।" चतुर्थ और गाँधी जी की दृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है—"मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।" अर्थात् किसी के धन या स्वामित्व का लोभ न करो। इस मंत्र की व्याख्या करते हुए गाँधी जी कहते हैं

कि एक अद्वितीय ईश्वर और भूतमात्र का स्रष्टा और स्वामी अखिल विश्व के अणु-अणु में व्याप्त है। मंत्र का यह पहला भाग है। इस भाग को स्वीकार कर लेने पर मंत्र के अन्य तीन भाग स्वाभाविक रीति से फलित होते हैं। (अत: मंत्र के प्रथम भाग को न मानने पर यह मंत्र अनुपयोगी और आकांक्षाओं के शमन में असमर्थ हो जाता है।) ईश्वर ने जो कुछ रचा है उन सबमें वह व्याप्त है ऐसा मान लेने पर हमें यह भी मानना पड़ता है कि हम ऐसी किसी वस्तु को भोग नहीं सकते जिसे उसने हमें दिया न हो। और यह देखते हुए कि वह अपने अगणित बालकों का स्रष्टा है यह भी अर्थ निकलता है कि हम किसी के धन का लोभ नहीं कर सकते। इसी भाव की अन्यत्र व्याख्या करते हुये गाँधी जी कहते हैं—ईश्वर सर्वव्यापी है। इसलिये यहाँ तुम्हारे स्वामित्व की कोई वस्तु नहीं, तुम्हारी देह भी तुम्हारी नहीं। तुम्हारे पास जो कुछ है उसका स्वामी तो ईश्वर है। उसके इस अधिकार से कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसलिये जब अपने को हिन्दू कहने वाला कोई भी मनुष्य द्विजत्व प्राप्त करता है तब उसने जिस-जिस वस्तु को अज्ञान के कारण अपनी सम्पत्ति कहा था उन सबको उसे ईश्वरार्पण कर देना पड़ता है। सब वस्तुओं का त्याग तदीयत्व का, द्विजत्व का, पुनर्जन्म का चिह्न है। ईश्वरार्पण या त्याग करने के बाद उससे कहा जाता है कि ईश्वर उसके योगक्षेम का वहन करेगा। अत: जीवन की आवश्यक वस्तुओं को भोगने की शर्त यह है कि या तो उन्हें ईश्वरार्पण कर दिया जाय या उनका त्याग कर दिया जाय। भोग या उपभोग त्याग का बदला है।

गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक सिद्धान्त का एकमात्र स्रोत यही मंत्र था। यह मंत्र समस्त विश्व का बन्धुत्व-मनुष्य का ही नहीं, किन्तु जगत् के जीवमात्र का बन्धुत्व प्रतिपादित करता है। सर्वेश्वर प्रभु विषयक अविचल श्रद्धा चाहिये, या सर्वभाव से ईश्वर की शरण में जाना हो और यह आस्था रखनी हो कि ईश्वर मेरे योगक्षेम का वहन करेगा तो वह आस्था भी इस मंत्र में मिलती है। गाँधी जी इसी मंत्र से समस्त जीवों की समानता का सिद्धान्त निकालते थे और मानते थे कि इससे तमाम तात्त्विक साम्यवादियों की आकांक्षाओं की तृप्ति हो सकती है। यह मंत्र तत्त्वचिन्तकों की आकांक्षाओं को भी तृप्त करता है।

गाँधी जी ने इसी चामत्कारिक श्लोक से ट्रस्टीशिप (संरक्षकता) के मौलिक सिद्धान्त का विकास किया। यह सिद्धान्त समाज की आर्थिक समस्याओं के लिये एक सरल-सहज निदान प्रस्तुत करता है। जगत् में सब कुछ ईश्वर का है तो व्यक्तिगत स्वामित्व की बात ही कहाँ रही? यदि हम इस आदर्श को मान लें तो आर्थिक क्षेत्र में होड़, अशान्ति और वञ्चना का जो दौर चल रहा है, जिसकी चरम परिणति पर महायुद्ध तक हो चुके हैं, वह समाप्त हो जायेगा। तब हम उतनी ही सम्पत्ति का उपभोग करेंगे जितनी हमें आवश्यक है। शेष को हम ईश्वरीय आदेश मानकर समाज के दूसरे जरूरतमंद भाइयों को दे देंगे।

संरक्षकता के सिद्धान्त को हम धार्मिक अर्थशास्त्र का सिद्धान्त कह सकते हैं। यह समाजवाद और साम्यवाद का आध्यात्मिक विकल्प है जो पूर्वोक्त दोनों की त्रुटियों से मुक्त है। संरक्षकता का सिद्धान्त गांधी जी की मौलिक देन है। गाँधी जी ने इस सिद्धान्त की प्रेरणा **ईशोपनिषद्** के इसी प्रथम मंत्र से प्राप्त की थी।

ईशावास्योपनिषद् और आचार्य विनोबा

आचार्य विनोबा, अर्थात् विनायक नरहरि भावे (जन्म 11 सितम्बर 1895) बचपन से ही विद्यानुरागी थे। किन्तु उनकी रुचि विश्वविद्यालयों की डिग्रियों एवं उपाधियों में नहीं थी। उनकी दर्शन एवं धर्म में रुचि केवल सैद्धान्तिक भी नहीं थी, वरन् वे तो उस आध्यात्मिक विद्या के प्रकाश में जीते थे और उसके बताये मार्ग पर चलते थे। उन्हें बम्बई विश्वविद्यालय की इन्टरमीडियेट की परीक्षा देनी थी किन्तु वे संस्कृत पढ़ने काशी चले आये। यहीं उन्हें 6 फरवरी, 1916 को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्थापना दिवस के उपरान्त आयोजित विशेष व्याख्यानों में गांधी जी का हृदय को भेदने वाला व्याख्यान सुनने को मिला। गाँधी जी के व्याख्यान से विनोबा में चमत्कारिक परिवर्तन हो गया, उनकी आँखों के सामने से परदा हट गया और उन्हें सत्य का मार्ग दिखने लगा। इस व्याख्यान में उन्हें क्रांति और शान्ति के उपदेश की

अनुभूति हुई। विनोबा काशी छोड़ सन् 1916 में ही साबरमती आश्रम में गाँधी के सान्निध्य में कर्मयोग सिद्धि के लिये पहुँच गये।

गाँधी जी की इच्छा, आज्ञा एवं बारम्बार प्रेरणा से उन्होंने **ईशावास्योपनिषद्** पर एक टिप्पणी लिखी। 1942 की जेल यात्रा में उन्हें इस टिप्पणी को संशोधित और परिवर्धित करने का अवसर मिला। इस प्रकार ईशावास्य-वृत्ति प्रकाश में आई। यह वृत्ति एक छोटा-सा भाष्य ही है जो मूलत: मराठी में लिखा गया था। इसका हिन्दी में अनुवाद करने वाले श्री कुंदरदिवाण निवेदन करते हैं कि 'वृत्ति' को पहले 'आचार्य' विनोबा ने संस्कृत में लिखना शुरू किया था। लेकिन 'सन्त' विनोबा ने उसे रोक दिया और लोकभाषा में ही लिखाया और इसी विचार से शायद इस रचना को विनोबा ने 'भाष्य' के बदले 'वृत्ति' नाम दिया है। हो सकता है वर्तन (अर्थात् आचरण) के लिये उपयोगी विवरण के नाते भी इसे वृत्ति नाम दिया हो।

विनोबा ने स्वयं ईश की शिक्षा को जीवन व्यवहार में उतारा था। गाँधीजी की ट्रस्टीशिप की अवधारणा में पूर्ण विश्वास और उसी अवधारणा की वास्तविक सिद्धि के लिये भूदान यज्ञार्थ महती पदयात्रा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी कारण विनोबा की **'ईशावास्य वृत्ति'** अत्यन्त सरल, सहज और उसके हृदय को खोल देने वाली है। विनोबा जी की प्रात:कालीन प्रार्थना उसी से होती थी। स्वयं विनोबा ने ईशावास्य-वृत्ति की कन्नड़ आवृत्ति की प्रस्तावना में कहा है—"**ईशावास्य** के कई मंत्र गूढ़वत् भासित होते हैं। लेकिन मेरे साथ वे खुले दिल से बात करते हैं, अपना हृदय मेरे सामने प्रकट करते हैं। उसी को मैंने टूटी-फूटी भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।"

विनोबा जी ने 'वृत्ति' में **ईशावास्योपनिषद्** की जो व्याख्या की है वह पूर्वाचार्यों के विवरण से बहुत स्थलों पर भिन्न है। स्वयं विनोबा के शब्दों में भिन्न अगर कुछ भी कहने का न हो तो फिर लिखने की आवश्यकता ही क्या है? किन्तु उन्होंने पूर्वाचार्यों के मत का निदर्शनपूर्वक कहीं विरोध नहीं किया है। इस संदर्भ में विनोबा पूर्णत: विचार-सहिष्णु हैं। उनका निष्कृष्ट अभिमत है कि वैदिक शब्द अर्थघन होते हैं। उनमें बहुत अर्थ भरा रहता है। उनसे हर कोई अपना अर्थ निकाल सकता है। वचन को अर्थ का भार नहीं होता—'न हि वचनस्य अर्थभारो नाम कश्चित्'। उस पर जितना भार डाला जायेगा, उसे सहने में वह समर्थ है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या श्रुति की अनेक व्याख्या शास्त्र सम्मत है? क्या हम अपने विचारों को श्रुति में पढ़ सकते हैं?

परम्परा (मुक्तिकोपनिषद्) के अनुसार वेद की प्रत्येक शाखा के लिये एक उपनिषद् था। वेद की 1180 शाखाओं कि गणना की गई है। **ऋक्** की 21, **कृष्ण यजुर्वेद** की 94, **शुक्ल यजुर्वेद** की 15, **सामवेद** की 1000 एवं **अथर्ववेद** की 50 शाखायें थीं।

शुक्ल यजुर्वेद की 15 शाखाओं में से वर्तमान में केवल दो शाखाएं माध्यंदिनी और काण्व, उपलब्ध हैं। इन दोनों शाखाओं के **ईशोपनिषद्** में कुछ पाठभेद और क्रमभेद है। जब दो शाखाओं में ही इतना पाठभेद है तो अन्य 19 शाखाओं में पाठभेद से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह तथ्य एक महत्त्वपूर्ण संकेत देता है कि ईशोपनिषद् की विभिन्न व्याख्याएं थीं और यदि इस लेख में हम कुछ आधुनिक व्याख्याओं पर विचार कर रहे हैं तो यह पूर्णत:शास्त्र के अविरुद्ध है।

वेदों को अखिल धर्म का मूल कहा गया है। शाश्वत धर्म में परिवर्तन की असम्भावना स्वीकृत करने वाले भी युग धर्म में परिर्वतन की सम्भावना से इन्कार नहीं कर सकते। इन युग धर्मों का भी प्रमाण वेदों में ही होना चाहिये। अत: वेदों की और फलस्वरूप उपनिषदों की युगानुरूप व्याख्या सार्थक है।

विनोबा का अवतरण भारत भूमि पर उस समय हुआ था जब इसे कर्मयोग की आवश्यकता थी। ऐसे कर्मयोग की जो पूर्णत: समर्पित हो। यह समर्पण भाव ईश्वरार्पण बुद्धि अथवा त्याग बुद्धि से ही संभव है। अत: उनकी ईशावास्य वृत्ति ईश्वरार्पित-कर्मयोग परक व्याख्या है।

ईशावास्य की ईश्वरार्पित कर्मयोग परक व्याख्या करने के कारण ही सम्भवत: विनोबा ने **श्रीमद्भगवद्गीता** को **ईशोपनिषद्** का भाष्य माना है। जिन सत्यों को ईशावास्य ने स्वल्पाक्षरों में सूचित किया है उसे ही गीता ने विस्तृत किया है। विनोबा के अनुसार ईशावास्य के 7 वें मंत्र में आये शोक और मोह शब्द **गीता** के प्रथम अध्याय के उपक्रम ''विसृज्य सशरं चापं, शोक-संविग्न-मानस:''[8] और अठारहवें अध्याय के उपसंहार ''नष्टो मोह: स्मृति-र्लब्धा, त्वत् प्रसादात् मयाऽच्युत''[9] का स्मरण कराते हैं। गीता के दूसरे अध्याय में वर्णित 'सांख्य बुद्धि' और 'योग बुद्धि' का बीज मंत्र 9 से 14 तक वर्णित 'बुद्धि शोधन' और 'हृदय शोधन' में है। **गीता** के तीसरे अध्याय का कर्मयोग अर्थात् देहधारी पुरुष को कर्मयोग के अतिरिक्त गति ही नहीं, यह गीता का सार-विवेचन, द्वितीय मंत्र के 'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति' में निहित है। **गीता** के चतुर्थ अध्याय का 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' अर्थात् दुष्टता-नियमन और साधुत्व-प्रेरण रूप दुहरा अवतार कार्य सोलहवें मंत्र के ''यम-सूर्य'' इन दो विशेषणों में देखा जा सकता है। यम अर्थात् अशुभ का नियमन कर्ता और सूर्य अर्थात् शुभ की ओर प्रवर्तन कर्ता। **गीता** के पाँचवें अध्याय का ज्ञेय वर्णन चौथे और पाँचवे मंत्र में स्पष्ट रूप से आया है। गीता के छठे अध्याय का आत्मौपम्य[10] और साम्ययोग[11] **ईशावास्य** के छठें मंत्र 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' और सातवें मंत्र 'एकत्वमनुपश्यत:' से सीधे लिये गये हैं। सातवें अध्याय में वर्णित त्रिगुणमयी (योगमाया) ही पन्द्रहवें मंत्र का 'हिरण्मयपात्र' है। सोलहवें मंत्र के 'वायुरनिलम्' में **गीता** के आठवें अध्याय में आयी हुई प्रयाण-साधना और सातत्य-योग दोनों की शिक्षा दी गई है। नवम अध्याय का राजविद्या (समर्पण योग) का संकेत पहले मंत्र के 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:' में है। 'व्यूह' और 'समूह' दो ही शब्दों में क्रमश: **गीता** का दसवाँ (विभूति योग) और ग्यारहवाँ (विश्वरूप दर्शन) अध्याय आ गया है। बारहवें अध्याय का 'लोकान्नोद्विजते च य:' आदि भक्तलक्षण छठें मंत्र के 'ततो न विजुगुप्सते' में देख सकते हैं। तेरहवें अध्याय का 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक' आठवें मंत्र के 'अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम्' में आ गया है। चौदहवें अध्याय का 'मूढयोनिषु जायते' वाला गुण विभाग तीसरे मंत्र के 'अन्धेन तमसावृता:' में पढ़ा जा सकता है। पन्द्रहवें अध्याय के 'पुरुषोत्तमयोग' को सोलहवें मंत्र के 'योऽसौ असौ पुरुष: सोऽहमस्मि' में देख सकते हैं। सोलहवें अध्याय की 'आसुरी संपत्ति' की गति का वर्णन संक्षेप में तीसरे मंत्र के 'असूर्या नाम ते लोका:' में बात दी गई है। सत्रहवें अध्याय का 'ॐ तत् सत्'[12] यह ब्रह्म निर्देश ईशावास्य के दसवें, पन्द्रहवें और सत्रहवें मंत्र में बँटकर आया है। दसवें मंत्र का 'तत्', पन्द्रहवें मंत्र का 'सत्य' और सत्रहवें मंत्र का 'ॐ' ये तीनों ईश्वर के नाम हैं और ईश्वर के स्वरूप के तीन पहलुओं को व्यक्त करते हैं। इन तीनों को एकत्र कर गीता ने 'ॐ तत् सत्' की योजना की है।

इसके अतिरिक्त भी **ईशावास्य उपनिषद्** एवं **भगवद्गीता** में अत्यधिक साम्य है। **ईशावास्य** उपनिषद् में अठारह मंत्र हैं तो **भगवद्गीता** में अठारह अध्याय। दोनों में भगवत्प्राप्ति के साधनों-कर्म, उपासना और ज्ञान-की त्रिवेणी का संगम हुआ है। **ईशावास्य** के 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' का भाव **गीता** के 'वासुदेव: सर्वमिति' में छिपा है। **ईशावास्य** के 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' और **गीता** के 'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्'[13]—दोनों ओर साधन का वही आग्रह दिखाई देता है। **ईशावास्य** के भक्त की 'युयोध्यस्मज्जुहुराणमेन:' वाली प्रार्थना ने गीता में आकर भगवान् की आज्ञा 'मामनुस्मर युध्य च'[14] का रूप धारण कर लिया है। अधिक क्या कहा जाय, यदि बीज में वृक्ष देखने की दृष्टि से देखा जाय तो ईशावास्य के प्रत्यक्षर में गीता-वृक्ष की प्रत्यक्ष झाँकी होगी। विनोबा कहते हैं—''मैं ठहरा गीता का पागल, शायद इसी से मुझे ऐसा दिखाई देता हो, परन्तु विस्तार को छोड़ देने पर भी इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि गीता का बीज ईशावास्य में है।''[15]

विनोबा कृत **ईशावास्य** की ग्रंथ योजना भी अपने आप में महत्वपूर्ण है। वैदिक विवेचन पद्धति में विषय का विभाजन त्रिकों से, द्विकों से और एककों से करने की ओर प्रवृत्ति रहती है। इसी पद्धति को अपना कर विनोबा ने **ईशोपनिषद्** के तीन मंत्रों के 5 त्रिक, दो मन्त्रों का एक द्विक और एक मन्त्र का एक एकक इस तरह कुल सात विभाग किये हैं और सबमें ईश्वर-भक्ति-रूप एक अखण्ड धागा पिरोया है।

प्रथम तीन मंत्रों के त्रिक में विनोबा संपूर्ण जीवन-दर्शन की व्याख्या देखते हैं। पहले मंत्र में ईश्वर-निष्ठा, दूसरे में तदनुसारिणी कर्मयोगनिष्ठा और तीसरे में उभयनिष्ठा शून्य अत्मघातकी आसुरी वृत्ति इस तरह त्रिविध जगत् है। तत्त्व विचार का त्रैगुण्य (सत्त्व, रज, तम) इस त्रिक में समझा दिया गया है।

चौथे और पाँचवें मंत्र के द्विक में आत्म-तत्त्व या ईश-तत्त्व की महिमा का वर्णन है। आत्मतत्त्व का वर्णन परस्पर-विरोधी विशेषणों से भरा है। विनोबा का मत है कि एक ही विचार के परस्पर-विरोधी या परस्पर-पूरक अथवा गौण-मुख्य अंग दिखाने के लिए द्विक उपयुक्त होते हैं। अत: ऋषि ने आत्मतत्त्व के वर्णन हेतु दो मंत्र दिये हैं।

मंत्र 6-8 के त्रिक में ईश्वरनिष्ठ या आत्मज्ञ पुरुष के गुण-चरित्र का वर्णन है। जो इस प्रकार है—

1. ओतप्रोत विश्वप्रेम (सर्वाणि भूतानि आत्मनि तथा सर्वभूतेषु च आत्मानं अनुपश्यति)
2. किसी व्यक्ति से भी और किसी वस्तु से भी अरुचि नहीं, उद्वेग नहीं (न विजुगुप्सते)
3. विश्वात्मैक्य-दर्शन (सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत:)
4. मोह नहीं, शोक नहीं (को मोह: क: शोक:)
5. विदेह स्थिति (अकायम्, अव्रणं)
6. पारदर्शिता, वशिता, व्यापकता, स्वतंत्रता (कवि:, मनीषी, परिभू:, स्वयंभू:)
7. शाश्वत अर्थ-लाभ (अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्य: समाभ्य:)

9 से 11 वें मंत्र के त्रिक में बुद्धि शोधन और 12 से 14 वें मंत्र के त्रिक में हृदय शोधन की चर्चा है। यदि देह को फाड़कर आत्मा को बाहर खींच निकालना है तो उसके लिये साधन भी तीक्ष्ण व सूक्ष्म चाहिये। सत्यासत्य विवेक की क्षमता चाहिये। 9 से 14 वें तक छ: मंत्रों में इन्हीं सूक्ष्म साधनों का वर्णन है। ये छ: मंत्र विशेष रूप से क्लिष्ट हैं और इनमें आये विद्या, अविद्या, सम्भूति एवं असम्भूति आदि पदों की व्याख्या में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। नवें मंत्र में श्री शंकराचार्य ने अविद्या का अर्थ कर्म किया है और विद्या का अर्थ देवता-ज्ञान किया है न कि अध्यात्म-ज्ञान[16], और इस प्रकार ग्यारहवें मंत्र में विद्या और अविद्या के समुच्चय का यत्न किया है। श्री उवटाचार्य ने विद्या का अर्थ आत्मज्ञान और अविद्या का अर्थ कर्म किया है।[17] सातवलेकर के अनुसार 'ईशावास्यमिदम्') में दो पदार्थ हैं, इदम् = प्रकृति, ईश = पुरुष। प्रकृति का विज्ञान अविद्या और पुरुष का ज्ञान विद्या है। विद्या और अविद्या के सम्बन्ध का ज्ञान उपदेश्य ज्ञान है। उपरोक्त सभी आचार्यों ने विद्या और अविद्या का भिन्न-भिन्न अर्थ करने पर भी उनमें समुच्चय प्रदर्शित किया है। विनोबा जी के अनुसार ग्यारहवें मंत्र में अविद्या और विद्या के समुच्चय का उपदेश दिखता है, किन्तु वह एक भाषा मात्र है। जहाँ दोनों साधन समर्थ होते हैं और उनके संयोग से एक विशेष निष्पत्ति होती है, वहाँ वह समुच्चय कहलाता है। पर यहाँ विद्या और अविद्या अलग-अलग असमर्थ ही नहीं अपितु अनर्थकारी हैं, इसलिये वे एक ही साधन बन जाते हैं, उनका समुच्चय सिद्ध नहीं हो पाता।[18]

विनोबा की दृष्टि में 'अविद्या' का अर्थ 'कर्म' नहीं है, क्योंकि कर्म को गाढ़अन्धकार कहने की कल्पना **ईशावास्य** में नहीं है। उससे विपरीत कल्पना है, जो मंत्र 2 और 3 एक साथ पढ़ने से ध्यान में आ जाती है। इसके अतिरिक्त अविद्या का अर्थ कर्म यथाश्रुत तो निश्चय ही नहीं है। विद्या का अर्थ 'आत्मज्ञान' भी नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान को गाढ़अन्धकार और वह भी मानो अविद्या से अधिक ही कैसे कहा जा सकता है। अत: विनोबा ने विद्या और अविद्या का ईशावास्य के मंत्रों का सीधा अन्वयार्थ बैठाते हुये अर्थ किया कि वे एक ही वस्तु के प्रवृत्त और निवृत्त अंग है। अविद्या का अर्थ है इष्ट अर्थ में अनधिकृत अनन्त ज्ञान प्राप्त न करना और विद्या का अर्थ है इष्ट में अधिकृत विशिष्ट ज्ञान लाभ करना। इन अर्थों में ये शब्द **ईशावास्य** के पारिभाषिक हैं। हमारा इष्ट अर्थ है—आत्मनिष्ठा। जो ज्ञान इस अर्थ में सहायक नही है वह व्यर्थ है और उसे न प्राप्त करना अविद्या है। इस प्रकार अविद्या भी साधक की साधना का एक अंग है। अविद्या से अपेक्षित लाभ हैं—1. बुद्धि पर व्यर्थ का भार न होना, 2. प्राणशक्ति संचय और 3. नम्रता। इष्ट अर्थ में सूक्ष्म-बुद्धि से दिग्दर्शन प्राप्त

करना, आत्मदर्शन में प्रवृत होना विद्या है। विद्या से अपेक्षित लाभ है बौद्धिक दिशा-दर्शन का। इस प्रकार विद्या-अविद्या दोनों की साधना बुद्धि शोधन के लिये जरूरी है। इस साधना से यह बोध हो जाता है कि हम विद्या और अविद्या दोनों से भिन्न साक्षिरूप हैं। जानना और न जानना इन दोनों से आत्मतत्त्व निराली ही वस्तु है।

बारहवें से चौदहवें मंत्र के त्रिक में विनोबा के अनुसार हृदय शोधन के लिये संभूति और असंभूति की साधना बतायी गयी। जिस प्रकार विद्या और अविद्या के अनेक अर्थ किये गये, उसी प्रकार आचार्यों ने सम्भूति और असम्भूति के भी विभिन्न अर्थ किये हैं। शंकराचार्य ने सम्भूति का अर्थ हिरण्यगर्भ या कार्यब्रह्म किया है और असम्भूति का अर्थ अव्याकृत प्रकृति किया है। उवट ने संभूति का अर्थ ब्रह्म और विनाश का अर्थ शरीर किया है।[19] सातवलेकर जी ने असंभूति का अर्थ व्यक्तिगत उन्नति और संभूति का अर्थ संघसत्ता किया है। विनोबा ने असंभूति का अर्थ असद्वृत्तियों का निरोध तथा सम्भूति का अर्थ सद्वृत्तियों का विकास किया है। यहाँ विकास से तात्पर्य आत्मा का विकास नहीं है। आत्मा तो विकास और निरोध, दोनों से परे है। विकास से यहाँ मन और शरीर का विकास अभिप्रेत है। परमात्मा केवल विकास से या निरोध से प्राप्त नहीं होता। विकास करने वाला मनुष्य यदि निरोध नहीं करता तो माया में और विषय वासना में फँस सकता है। इसी प्रकार विकास रहित निरोध साधना से गलत मोह-ममता में फँस जाने की संभावना रहती है। अत: निरोध और विकास दोनों के गुणों से सम्पन्न एक परिपूर्ण साधना करनी चाहिये। हमें गुणों की संभूति करनी चाहिये। उनका विकास करते रहना चाहिये। हमें दोषों की असंभूति करनी चाहिये, अर्थात् नये दोष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये और पहले से विद्यमान दोषों का विनाश करना चाहिये। इस प्रकार चित्त शुद्धि करते हुये हमें यह भी पहचानना चाहिये कि आत्मा दोष और गुण दोनों से भिन्न, केवल साक्षिरूप है। इस तरह अभ्यास करने से चित्त-शुद्धि होगी और निरोध एवं विकास आत्मज्ञान के साधन बन जायेंगे।

विद्या-अविद्या और सम्भूति-असम्भूति की साधना के द्वारा बुद्धिगत अन्धकार (केवल अविद्या, केवल विद्या) और हृदयगत अन्धकार (केवल निरोध, केवल विकास) के संशोधन का लक्ष्य है। यह संशोधन होता है आत्मज्ञान के द्वारा। किन्तु आत्मज्ञान के लिये संशोधन आवश्यक है। 'साधन-शुद्धि से आत्मज्ञान और आत्मज्ञान से साधन-शुद्धि यह पहेली कैसे सुलझे?' इस चक्रक-गुत्थी में बड़े-बड़े ज्ञानी एवं योगी भी भ्रमित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में भक्ति एवं प्रार्थना के अतिरिक्त कोई गति नहीं। अत: सत्य का साधक अब विश्वपोषक प्रभु से सत्य का दर्शन कराने के लिये प्रार्थना करता है।[20]

विनोबा के अनुसार इस मंत्र में एक पूर्ण विचार आया है और पूर्ण विचार सूत्र रूप में रखने के लिये एकक आवश्यक होता है। अत: यह मंत्र एकक है। इस मंत्र में दर्शन का सार आ गया है। दर्शन-सार यह है कि दुनिया में सत्य छिपा हुआ है। वह मोह के आवरण से ढँका है। जब तक उस मोह के आवरण का अनावरण नहीं होता, तब तक सत्य का दर्शन नहीं होता है। इस मोह या असत्य के पर्दे को हटाने के लिये सत्य से प्रार्थना की गई है। इस जीवन का उद्देश्य है सत्य की खोज, सत्यशोधन।[21] यह सत्य की साधना ही विनोबा के अनुसार प्राथमिक, बीच की और आखिरी साधना होगी। यही एकमात्र साधना होगी।[22]

इस सत्यशोधन के लिये सोलहवें से अठारहवें तीन मंत्रों के त्रिक में ध्यानत्रयी सम्पादन का निर्देश है। सोलहवें मंत्र में सूर्य के रूप में, सत्रहवें मंत्र में वायु के रूप में और अठारहवें मंत्र में अग्नि के रूप में ईश्वर का ध्यान करने का उपदेश है। सूर्य, वायु और अग्नि ईश्वर के प्रतीक है। 'सूर्य' अर्थात् वाच्यार्थ से 'प्रेरक' परमेश्वर, 'अनिल' अर्थात् वाच्यार्थ से 'चैतन्यमय' परमेश्वर और अग्नि अर्थात् वाच्यार्थ से 'देदीप्यमान' परमेश्वर। ध्यान का स्वरूप होगा—जो अन्तर्यामी सूर्य का प्रेरक है, वही मेरी बुद्धि का प्रेरक है। 'सत्य' उसकी संज्ञा है। सूर्य और बुद्धि उस पर सुनहरे ढक्कन हैं। जो अन्तर्यामी वायु का चालक है, वही मेरे प्राणों का चालक है, 'सत्य' उसकी संज्ञा है। वायु और प्राण उस पर सुनहरे ठक्कन हैं। जो अन्तर्यामी अग्नि का उद्दीपक है, वह मेरे शरीर का भी उद्दीपक है। 'सत्य' उसकी संज्ञा है। अग्नि और शरीर उस पर सुनहरे

ढक्कन हैं। विनोबा के अनुसार मंत्र 16 से 18 की ध्यानत्रयी में एक संपूर्ण चिन्तन है। 'भू:, भुव:, स्व:, ये ॐकार की तीन मात्रायें हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग ये हैं उनके आधिभौतिक अर्थ। अग्नि, वायु, सूर्य अधिदैवत और शरीर, प्राण, बुद्धि उनका अध्यात्म अर्थ है। इस ध्यानत्रयी में एक परिपूर्ण उपासना प्रक्रिया है, जिसमें क्रमश: सत्यशोधन करते हुये 'सोऽहमस्मि' की अनुभूति होती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी समाप्त हो जाती है। केवल एक अन्तर्नाद की गूँज रह जाती है—"योऽसावसौ पुरुष: सोऽहमस्मि।"

विनोबा के चिन्तन की विशेषता है कि उन्होंने ईशावास्य के आदि से अन्त तक एकरस अर्थ किया है और अठारहों मंत्रों की संगति एकसूत्र में पिरोकर की है। वह इसमें ज्ञान निष्ठा और कर्मनिष्ठा रूपी द्विविध मार्ग नहीं देखते। अपितु ज्ञान-कर्म का, त्याग-भोग का, विद्या-अविद्या का, संभूति-असंभूति का, विचार-आचार का, सिद्धान्त और प्रयोग का एक सुन्दर समन्वय देखते हैं। समन्वय की अनादि भारतीय परम्परा विनोबा के ईशावास्योपनिषद् के चिन्तन में प्रत्यक्ष प्रगट हुई है। संभवत: इसी कारण विनोबा जी को 'समन्वयाचार्य' विरुद से अलंकृत किया जाता है।

सन्दर्भ

1. कोट्टयम की सभा में, जनवरी 20, 1937 को दिया गया भाषण।
2. हरिजन सेवक, फरवरी 6, 1937
3. *Harijan,* Jan 30, 1937
4. हरिजन सेवक, फरवरी 6, 1937
5. *Harijan,* Jan 30, 1937
6. महादेव भाई की डायरी, पृ० 374
7. *Harijan,* Jan 30, 1937
8. गीता, 1.47
9. गीता, 18.73
10. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन, गीता 6.32
11. सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित:, गीता 6.31
12. गीता, 17.23
13. गीता, 4.15
14. गीता, 8.7
15. 'ईशावास्य वृत्ति' की प्रस्तावना, पृ० 6
16. देवताविषयं ज्ञानं कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम्, शांकरभाष्य, ईशावास्योपनिषद्, 9
17. विद्यां च आत्मज्ञानं च अविद्यां कर्म च, उवटाचार्य कृत शुक्लयजुर्वेदसंहिता भाष्य, 40.14
18. ईशावास्य-वृत्ति, पृ० 39
19. सम्भूतिं च। समस्तस्य जगत: सम्भवैक हेतुं च परं ब्रह्म। विनाशं च विनाशि शरीरं च। उवटाचार्य कृत शुक्लयजुर्वेद संहिता भाष्य, 40.11
20. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
    तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। ईशावास्योपनिषद्, 15
21. वेद-वेदान्त-गीतानां विनुना सार उदधृत: ।
    ब्रह्म सत्यं, जगत् स्फूर्ति:, जीवनं सत्यशोधनम् ।। विनोबा साहित्य, खण्ड 2, पृ० 332
22. विनोबा साहित्य, खण्ड 2, पृ० 369

* * *